बन्धुता की शिक्षा

अमन मदान

हम यह चाहते ही हैं कि शिक्षा हमारे समाज के अच्छे सदस्य तैयार करे। मगर विद्यार्थी कई अलग-अलग अपेक्षाओं के बीच में खिंचते हैं। हमारे लिए अच्छे सदस्य का मतलब है जो भेदभाव न करे, सबके साथ न्याय चाहे, सबका सम्मान करे। लेकिन उनके आस-पास का समाज कई बार यह सिखा रहा होता है कि विद्यार्थी अपने समूह को ही अच्छा मानें, और दूसरे समूहों—जातियों, पन्थों, लिंगों, वर्गों, आदि—को कमतर। शिक्षा के ज़रिए ही इसे सँभाला जा सकता है और बन्धुता का वातावरण बनाया जा सकता है।

चित्र 1: विद्यार्थियों की समझ और संवेदना को गढ़ती हैं उनके आस-पास की कहानियाँ

मेरी सहकर्मी तरन्नुम ख़ान ने भोपाल के एक निजी विद्यालय में लोअर केजी के विद्यार्थियों के साथ काम किया। उन्होंने पाया कि उनमें से कइयों ने उस उम्र में ही अपने परिवार की मान्यताओं को अपना लिया था कि "चिकन खाने वाले गन्दे होते हैं"। इस निजी विद्यालय के अधिकांश विद्यार्थी सशक्त जातियों के थे। भारत में माँसाहार का जाति और पन्थ से क़रीब का सम्बन्ध है। बहुत सारे लोग इससे ऊँच-नीच की रेखाएँ खींचते हैं। शिक्षा से हम चाहते हैं कि विद्यार्थी सभी भारतीयों में भारतीय और इन्सान होने की पहचान को प्राथमिकता दें। मगर उनके परिवार और मुहल्ले में ज़्यादा ज़ोर दिया जाता है समूहों के बीच के फ़र्क़ पर और ऊँच-नीच की पहचान पर। ऐसे में शिक्षक को थोड़ा सोचना पड़ता है कि वह अपनी शिक्षा के उद्देश्यों की तरफ़ कैसे बढ़े।

कई मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि विद्यार्थियों (और बड़ों) के मन में सामाजिक रिश्तों के नक़्शे एक साल की उम्र से ही बनना शुरू हो जाते हैं। 4-5 साल की उम्र तक वह काफ़ी मज़बूत हो जाते हैं। विद्यार्थी सीख जाते हैं कि जिनके कपड़े अलग तरह के पुराने, बदरंग और कम साफ़ हैं उनसे एहतियात बरतनी चाहिए। वे सीख जाते हैं कि घर पर काम करने आई अम्मा से अलग तरह से बात की जाती है। जब लड़के खाना बनाने का खेल खेलते हैं तो उन पर हँसा जाता है, और जब

> **मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि विद्यार्थियों (और बड़ों) के मन में सामाजिक रिश्तों के नक़्शे एक साल की उम्र से ही बनना शुरू हो जाते हैं। 4–5 साल की उम्र तक वह काफ़ी मज़बूत हो जाते हैं।**

लड़कियाँ मोटरसाइकिल चलाने की नक़ल करती हैं उनको चुप कराया जाता है। इस उम्र से लड़के-लड़कियाँ अपने जैसे कपड़े या बालों या रंग वालों के ज़्यादा क़रीब महसूस करते हैं, और अलग क़िस्म के लिबास और रंगत से दूरी बनाते हैं। यह दूरी डर के रूप में भी सिखाई जा सकती है, और जिज्ञासा के रूप में भी। यह दूरी क्या रूप लेती है वह उनके अपने विवेक, उनके आस-पास की मान्यताओं और उनके विपरीत मिलने वाली मान्यताओं का मिश्रित परिणाम होता है।

विद्यालयी शिक्षा अवसर देती है विद्यार्थियों के मन में बनने वाले सामाजिक नक़्शों को बदलने का, क्योंकि उनके मन में पहचान और भावनाएँ एक स्थिर तस्वीर बना बैठी होती हैं। कुछ लोगों और समूहों को देखकर विद्यार्थी ख़ुश होते हैं, वहीं कुछ को देखकर डरते हैं अथवा उन पर उन्हें घृणा या क्रोध आता है। इन भावनात्मक तस्वीरों को हम सीधे से नहीं मिटा सकते। इन्हें बदलने का एक तरीक़ा होता है कि कुछ नई भावनात्मक तस्वीरें बनाई जाएँ। और फिर विद्यार्थी ख़ुद दोनों तस्वीरों के बीच में सामंजस्य बनाने के लिए जूझते हैं। अकसर (मगर हर बार नहीं) परिणाम यह निकलता है कि नई या मिश्रित तस्वीरें बनती हैं।

कहानियों से हम दुनिया बुनते हैं

विद्यार्थी अपनी दुनिया के ज्ञान का बड़ा हिस्सा उसके बारे में कहानियाँ सुनकर बनाते हैं। कहानियों में खो जाते हैं, और एक ऐसी दुनिया में चले जाते हैं जो उनकी पुरानी दुनिया से अलग है। कहानियाँ एक बड़ा स्रोत हैं जिनसे उनकी भावनाएँ और समूहों के मानसिक नक़्शे बनते हैं। ऊँच-नीच और नफ़रत के रिश्ते बहुत हद तक वे कहानियों से सीखते हैं। और वही कहानियाँ उनको बन्धुता और समानता के रिश्ते भी सिखा सकती हैं।

मुश्किल यह है कि अगर पहले से कुछ मान्यताएँ और भावनाएँ बनी हुई हैं तो हमारा दिमाग़ उनको पकड़कर रखने में बहुत कुशल है। लड़के अकसर यह सीखते हैं कि आदमी ही बहादुरी का काम करते हैं। जब उन्हें कहानी सुनाते हैं जिसमें कमला पहाड़ चढ़ती है या जंगली जानवरों से अपने छोटे भाई को बचाती है, वे कहानी का आनन्द तो लेते हैं मगर कमला के लड़की होने पर ध्यान नहीं देते। इस ध्यान न देने पर उन्हें कम मेहनत करनी पड़ती है, और उनकी पुरानी समझ—कि लड़के ही बहादुर होते हैं—जस की तस बनी रहती है।

पूर्वाग्रहों और पक्षपात पर काम करने वाले कई विशेषज्ञों (Aboud 2009, Bigler and Liben 2007) का कहना है कि अगर हम सामाजिक नक़्शा बदलना चाहते हैं तो नए नक़्शे पर ज़ोर देना ज़रूरी है। सिर्फ़ बहादुर लड़की की बात करना पर्याप्त नहीं है, उस बहादुर इन्सान का लड़की होने पर ज़ोर देना पड़ेगा। कहानी में कई बातों को लाना होगा जिनसे उसकी लड़की होने की पहचान सामने आती है, तभी लड़कियों के बहादुर होने की समझ लड़कों के दिमाग़ में बैठेगी। नहीं तो वह पानी की तरह उनके पूर्वाग्रहों के सिर्फ़ पाँव छूकर फिर बह जाएगी।

> **नफ़रत, पूर्वाग्रह और शोषण के कई तरह के कारण होते हैं। अन्ततः इन ढाँचों के बदलने से ही वे हटेंगे। फिर भी विद्यालय में हमें एक मौक़ा मिलता है कि हम बाहरी समाज से अलग रिश्ते बनाएँ।**

एक अच्छा उदाहरण प्रेमचन्द की मशहूर कहानी 'ईदगाह' से मिलता है। कई विद्यार्थी दूसरे पन्थों के बारे में सीखते हैं कि उनके मानने वाले दुष्ट होते हैं, वे सिर्फ़ बुरी बातें ही सोचते हैं, उनसे डरना चाहिए, इत्यादि। यह हर पन्थ के बारे में कुछ दूसरे पन्थों के लोग अपने विद्यार्थियों को सिखाते हैं—हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, वग़ैरह। इनमें से एक को देखें तो जिन लोगों को मुसलमानों का नाम लेते ही क्रोध, घृणा और शक की भावनाओं का एहसास होता है, उन पर प्रेमचन्द की कहानी का विपरीत प्रभाव पड़ता है। कहानी का मुख्य किरदार बड़े स्पष्ट रूप से मुस्लिम है, और जो त्योहार चल रहा है वह भी ईद का है। जैसे-जैसे कहानी बढ़ती है हम मेले को और ग़रीबी की बेबसी को लेखक की आँखों से देखते जाते हैं। यह ऐसी बेबसी है जो सभी पन्थों के लोग जानते और पहचानते हैं। और कहानी का अन्त (जो कि मैं नहीं बताऊँगा) ऐसा है जिससे इस मुस्लिम विद्यार्थी और उसकी मानवीय समस्याओं पर प्रशंसा के आँसू आ जाते हैं। इसे पढ़कर दूसरे पन्थों के विद्यार्थियों के मन में बसी मुसलमानों की नकारात्मक छवियों और भावनाओं में थोड़ा-सा बदलाव आ जाता है।

ऐसे ही जातिवाद से निपटने के लिए अम्बेडकर के जीवन की कहानी सुनाई जा सकती है।

समूहों के बीच प्रतिस्पर्धा की जगह सहयोग के खेल

विद्यालय के दिन की आधी छुट्टी हुई, और विद्यार्थी बाहर खेलने गए। हर जगह तो नहीं, मगर कई जगहों पर यह आम दिखता है कि एक तरह के समूह के विद्यार्थी अलग खेलते हैं, और दूसरे विद्यार्थी अलग। लड़के, लड़कियों से अलग खेल रहे होते हैं। उत्तराखण्ड के मैदानी इलाक़ों में बंगाली विद्यार्थी अलग और हिन्दीभाषी अलग। एक इलाक़े से आने वाले विद्यार्थी साथ खेलते हैं, और दूसरे मुहल्लों के अलग। इससे आपस का रिश्ता टकराव और प्रतिस्पर्धा का बन जाता है। अच्छी जगह में कौन खेलेगा—गर्मियों में छाँव तले और सर्दियों में धूप के नीचे। साथ खेलते भी हैं तो टीमें अलग होती हैं। इस सबसे सामाजिक गुटों की रेखाएँ और ज़्यादा मज़बूत होती हैं।

मैट लोव नामक कनेडियन अर्थशास्त्री ने ऐसे में एक मज़ेदार प्रयोग किया (Lowe 2021)। उन्होंने उत्तर प्रदेश में विभिन्न जातियों के युवाओं का क्रिकेट टूर्नामेंट आयोजित करवाया। पहले इश्तिहार बँटवाए कि पूरी सर्दियों भर एक टूर्नामेंट चलेगा जिसमें आकर्षक इनाम मिलेंगे, और खिलाड़ियों से आवेदन मँगवाए। फ़र्क़ यह था कि टीम खिलाड़ी नहीं, लोव व उनके साथी बनाएँगे।

आवेदनों को ध्यान से छाँटा गया, और खिलाड़ियों के गेंद फेंकने, पकड़ने और बल्लेबाज़ी के टेस्ट लिए गए। फिर लोव ने कुछ ऐसी टीमें बनाईं जिनमें एक ही जाति के खिलाड़ी थे, और कुछ ऐसी जिनमें मिली-जुली जातियाँ थीं। टूर्नामेंट शुरू होने से पहले खिलाड़ियों को पूरी बात बताए बिना उनसे कुछ सवाल पूछे गए। मसलन, कुछ अन्य खिलाड़ियों के पूरे नाम (जिनसे जाति पता चल जाए) दिखाकर पूछना कि अगर तुम टीम बनाओगे तो इनमें से किनको चुनोगे, इत्यादि। जैसा कि अकसर होता है टीम के चयनित खिलाड़ी के नामों में अपने जाति के नाम ज़्यादा होते थे।

ख़ैर, इन काल्पनिक टीमों को छोड़, लोव द्वारा चयनित एक जाति और मिश्रित जातियों की टीमों ने पूरे सीज़न टूर्नामेंट खेला। एक टीम में सब टीम की तरह खेले और एक दूसरे के साथ तालमेल बनाना सीखा, आपसी सहयोग बनाकर दूसरी टीमों को हराने की कोशिश की। टूर्नामेंट के अन्त में लोव ने फिर से उनसे उसी तरह के सवाल पूछे। मसलन, इन नामों में से बताओ कि तुम अपनी टीम में किसे लोगे; अगर किसी को आगे की ट्रेनिंग के लिए भेजना होगा तो किसे भेजोगे; आदि। अब कुछ खिलाड़ियों के उत्तरों में पहले की तुलना में अन्तर दिखा। जो खिलाड़ी एक ही जाति की टीमों में खेले थे उनमें कोई अन्तर नहीं था। मगर जो मिश्रित टीमों में खेले थे उनमें दूसरी जातियों के खिलाड़ियों के चयन में बढ़ोतरी दिखी। यह नहीं समझना चाहिए कि इन खिलाड़ियों की पूरी-की-पूरी सोच और उनके मानसिक एवं भावनात्मक नक़्शे पलट गए थे, मगर उनमें बदलाव ज़रूर दिख रहा था।

मैट लोव के प्रयोग का आधार था वास्तविक टकराव सिद्धान्त (Realistic Conflict Theory)। सिद्धान्त कहता है कि लोग गुट बनाते-ही-बनाते हैं, यह इन्सानों का स्वभाव है। मगर ज़रूरी नहीं कि वे गुट एक दूसरे से नफ़रत ही करेंगे, या एक दूसरे को नुक़सान पहुँचाने की कोशिश करेंगे। यह इस पर निर्भर करता है कि परिस्थितियाँ क्या हैं, और उनका परिस्थितियों के बारे में नज़रिया क्या है। इस बात का सबसे मशहूर उदाहरण 1950 के दशक में अमरीका में मुजफ़्फ़र शरीफ़ और उनके साथियों द्वारा किया गया प्रयोग है।

11 साल के गोरे लड़के एक रिहाइशी समर कैम्प में आ रहे थे। शरीफ़ ने उनके दो बराबर-बराबर समूह बना दिए। दोनों के साथ पहले ऐसी गतिविधियाँ करानी शुरू कीं जिनमें एक समूह की जीत से दूसरे की हार थी। टीमों की रेस करवाई गई, उनका रस्सी खींचने का खेल हुआ, इत्यादि। जीतने वाले की वाहवाही होती थी और हारने वाले का मज़ाक़। थोड़ी ही देर में हर समूह की भीतर की एकजुटता बनकर तैयार हो गई। विद्यार्थियों को समझ में आया कि जब वे अपने समूह वालों की मदद करते हैं तभी उनका भी फ़ायदा है। साथ ही, दूसरे समूह वालों का मज़ाक़ उड़ाना, उनकी हार पर मज़ा लेना शुरू कर दिया। समूहों के बीच के सम्बन्ध बहुत जल्दी बिगड़ने लगे। कुछ ही दिनों में ये विद्यार्थी, जो पहले एक दूसरे को जानते तक नहीं थे, अब पुराने दुश्मनों की तरह पेश आने शुरू हो गए। यहाँ तक कि एक दिन खाने के दौरान बात धक्कम-धक्के तक पहुँच गई।

इस मोड़ पर शरीफ़ ने प्रतिस्पर्धा वाली गतिविधियाँ रोक दीं। एक दिन का विश्राम दिया गया। और फिर विद्यार्थियों को बताए बिना कुछ गतिविधियाँ शुरू हुईं जिनमें दोनों समूहों को मजबूरन एक दूसरे का सहयोग करना पड़ता था। उन्हें कहा गया कि कैम्प में खाना लाने वाला ट्रक ख़राब हो गया है, सबको मिलकर उसे धक्का देना पड़ेगा। फिर पानी की टंकी तक जाने वाला पाइप बदलना है जिसके लिए सबको मिलकर काम करना पड़ेगा।

चित्र 2 : विद्यालय में विद्यार्थियों को मिलती हैं नई दोस्तियाँ और भाईचारे की समझ

धीरे-धीरे दोनों समूह के विद्यार्थियों में दोस्ती हो गई, और आपस में टकराव शान्त हो गया।

शरीफ़ और कई अन्य विशेषज्ञों का कहना है जब परिस्थितियाँ ऐसी हों जिनमें प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा दिया जाता है, नफ़रत और शक बढ़ जाते हैं। वहीं जब परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि आपसी सहयोग में फ़ायदा है, मैत्री और प्रेम बढ़ जाते हैं। इसमें और भी बातें शामिल हैं—विचारधाराओं का भी असर पड़ता है, ऊँच-नीच के रिश्तों का असर, सत्ता का भी प्रभाव है, इत्यादि। मगर इस मूल समझ को लेकर—परिस्थितियाँ ऐसी बनाएँ कि सहयोग में फ़ायदा हो—हज़ारों अध्ययन हुए हैं, और लाखों शिक्षकों ने इस सिद्धान्त को अपनाया है।

शिक्षकों ने खेल खिलवाए हैं जिनमें अलग सामाजिक समूहों के विद्यार्थी विरोधी न होकर सहयोगी होते है। कक्षा में हर गतिविधि के लिए शिक्षकों ने जानबूझकर मिश्रित समूह बनाए हैं ताकि विद्यार्थी एक दूसरे का सहयोग करना सीखें। इसमें वे ध्यान रखते हैं कि एक समूह के विद्यार्थी क़रीब-क़रीब एक तरह की कुशलता के हों, नहीं तो सहयोग हो नहीं पाता। मगर नतीजा आमतौर पर यही आया है कि भिन्न सामाजिक समूहों के विद्यार्थियों के बीच गहरी दोस्ती उभरकर आई है।

सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक ढाँचे का प्रभाव

सिर्फ़ इस तरह की गतिविधियों और कहानियों से सब कुछ नहीं बदल जाएगा। ज़्यादातर समूहों के बीच की नफ़रत और शक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक ढाँचों के कारण होता है। यह रिश्ते सिर्फ़ विद्यार्थियों के बीच में बन्धुता बढ़ाकर नहीं ख़त्म होंगे। जातिवाद का आधार होता है कि कुछ परिवारों के पास ज़्यादा साधन हैं, और कुछ के पास कम। उनकी विचारधाराएँ और रीति-रिवाज ऊँच-नीच को बाँधे रखते हैं। अलग-अलग जातियों के बीच प्रतिस्पर्धा रहती है—नौकरियों के लिए, सम्मान के लिए, इत्यादि। पन्थों के आपस के टकराव का आधार होता है उनका आपस में न मिलना, और उनके नेताओं व राजनैतिक व्यवस्थाओं का अलग-अलग होना। उनकी अन्दरूनी विचारधाराएँ, कामकाज, भिन्न रीति-रिवाज सभी भीतर की एकजुटता को बनाए रखने में मदद करते हैं। जब दो अलग पन्थ एक दूसरे को नौकरियों, राज-सत्ता और सम्मान के लिए विरोधियों के रूप में देखते हैं, आपस का भय और क्रोध बढ़ जाता है। उधर पितृसत्ता का आधार होता है पुरुषों के पास साधनों का नियंत्रण होना, उनका सांस्कृतिक वर्चस्व होना। पुरुष और महिलाएँ पितृसत्ता में आपस की प्रतिस्पर्धा में फँस जाते हैं कि कौन निर्णय लेगा और किसकी बात मानी जाए।

नफ़रत, पूर्वाग्रह और शोषण के कई तरह के कारण होते हैं। अन्ततः इन ढाँचों के बदलने से ही वे हटेंगे। फिर भी विद्यालय में हमें एक मौक़ा मिलता है कि हम बाहरी समाज से अलग रिश्ते बनाएँ। जब विद्यार्थियों के मन में पुराने पूर्वाग्रहों के सामने नई दोस्तियाँ और नई समझ आकर खड़ी हो जाती है, उसका बड़ा असर होता है। पहले जैसे कि उनके दिल में एक ही आवाज़ बोलती थी, अब उसके विपरीत की आवाज़ भी हौले से बोलती है। विद्यार्थी इस विरोधाभास को कैसे सुलझाएँगे, अन्त में यह शिक्षकों के हाथ में नहीं होता। यह विद्यार्थियों को ही करना है। कुछ सुलझाएँगे, कुछ नहीं। कुछ इस तरीक़े से सुलझाएँगे, कुछ उस तरीक़े से। मगर शिक्षकों और विद्यालय ने उनके जीवन की सहस्त्र धाराओं में एक नई बन्धुता की मीठी-सी धारा जोड़ दी होगी।

सन्दर्भ

Aboud, Frances E. 'Modifying Children's Racial Attitudes.' In *The Routledge International Companion to Multicultural Education,* edited by James A. Banks, 199–209. New York and London: Routledge, 2009.

Bigler, Rebecca, and Lynn S. Liben. 'Developmental Intergroup Theory.' *Current Directions in Psychological Science 16,* No. 3 (June, 2007): 162–66.

Lowe, Matt. 'Types of Contact: A Field Experiment on Collaborative and Adversarial Caste Integration.' *American Economic Review 111,* No. 6 (June 2021): 1807–44.

अमन मदान ने मानवशास्त्र और समाजशास्त्र का अध्ययन किया है। पिछले तीन दशकों से शिक्षा और समाज के मुद्दों पर अध्यापन एवं शोध के क्षेत्र में संलग्न हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी, भोपाल में अध्यापन कार्य कर रहे हैं।

सम्पर्क : amman.madan@apu.edu.in